

श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित स्वधर्म की परिकल्पना



वागीश मिश्र

शोध छात्र

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भगवद्गीता विश्व की अत्यन्त ही पवित्र और लोकप्रिय रचना है। गीता में केवल धार्मिक विचार ही नहीं है बल्कि नैतिक नियम, तत्त्व विचार, ब्रह्म-विद्या, ईश्वर और आत्मा के विषय में विविध सिद्धान्त, सृष्टि विषयक सिद्धान्त और योगशास्त्र आदि भी निहित है। भारतीय दर्शन की प्रस्थानत्रयी में परिगणित श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान-विषयक उपदेश दिया है। गीता समस्त उपनिषदों का सार है। उपनिषद् गहन, विस्तृत और विविध हैं जिसमें साधारण मनुष्य के लिए उनका अध्ययन कठिन है। गीता में उपनिषद् के तथ्यों को सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसलिए कहा गया है कि समस्त उपनिषद् गाये हैं, कृष्ण उसके दुहने वाले हैं, अर्जुन बछड़ा है और विद्वान् गीता रूपी महान अमृत का पान करने वाले हैं।¹ तिलक ने गीता का परिचय देते हुए 'गीता रहस्य' में कहा है कि श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्म ग्रन्थों में एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। यह ग्रन्थ वैदिक धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में वेद के समान आज करीब ढाई हजार वर्ष से सर्वमान्य तथा प्रमाणस्वरूप हो रहा है। इसका कारण भी उक्त ग्रन्थ का महत्त्व ही है।²

स्वधर्म की अवधारणा को गीता में प्रतिस्थापित किया गया है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि चार वर्णों का समूह गुणक और कर्म द्वारा मेरे द्वारा रचे गये हैं।³ ये चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। चारों वर्ण की व्यवस्था ईश्वर द्वारा गुण और कर्म के भेद के आधार पर निर्मित हुई। गीता में यह कहा गया है कि पृथ्वी में कोई भी प्राणी नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न हुए तीन गुणों से रहित हो।⁴ जिनमें सत्त्वगुण अधिक होता है उन्हें ब्राह्मण बताया गया है, जिसमें सत्त्व मिश्रित रजोगुण का आधिक्य होता है उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। जिसमें तमो मिश्रित रजोगुण की प्रबलता होती है उन्हें वैश्य और जिनमें तमोगुण प्रधान होता है उन्हें शूद्र के रूप में रचा गया है। इसे निम्न सारणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

ब्राह्मण— सत्त्वगुण की प्रधानता

क्षत्रिय—रजोगुण की प्रधानता + सत्त्वगुण की गौणता

वैश्य— रजोगुण की प्रधानता + तमोगुण की गौणता

शूद्र— तमोगुण की प्रधानता

इस प्रकार गुणों के अनुसार चारों वर्ण निर्मित किये गये हैं। चारों वर्ण का कर्म प्रत्येक वर्ण के स्वभावजन्य गुणों के अनुसार पृथक्-पृथक् विभाजित किया गया है। गीता के अनुसार शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान-विज्ञान तथा आस्तिक्य आदि ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।⁵

शम— मन को जहाँ लगाना चाहें, वहाँ लग जाय और जहाँ से हटाना चाहें वहाँ से हट जाय, इस प्रकार मन के निग्रह को शम कहते हैं

दम— जिस इन्द्रिय से जब जो काम करना चाहें तब वह काम कर लें और जिस इन्द्रिय को जब जहाँ से हटाना चाहें तब वहाँ से हटा लें, इस प्रकार इन्द्रियों को वश में करना दम है।

तप— तप का अर्थ है अपने धर्म का पालन करते हुए जो कष्ट हो अथवा कष्ट आ जाय उसको प्रसन्नतापूर्वक सहना अर्थात् कष्ट के आने पर चित्त में प्रसन्नता का होना।

शौच— अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियों, शरीर आदि को पवित्र रखना तथा अपने खान-पान, व्यवहार आदि की पवित्रता रखना, इस प्रकार शौचाचार-सदाचार का ठीक पालन करने का नाम शौच है।

क्षान्ति— कोई कितना ही अपना करे, निन्दा करे, दुःख दे और अपने में उसको दण्ड देने की योग्यता, बल, अधिकार भी हो फिर भी उसको दण्ड न देकर प्रसन्नतापूर्वक क्षमा कर देने का नाम क्षान्ति है।

आर्जव— शरीर, वाणी, आदि के व्यवहार में सरलता हो और मन से छल, कपट आदि दुर्भाव न हो अर्थात् सीधा-सादापन हो उसका नाम आर्जव है

ज्ञान— वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि का अच्छी तरह अध्ययन होना और उनके भावों का ठीक तरह से बोध होना तथा कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध होना ज्ञान है।

विज्ञान— यज्ञ में स्रुक, स्रुवा आदि वस्तुओं का किस अवसर पर किस विधि से प्रयोग करना चाहिए इसका अर्थात् यज्ञ विधि का तथा अनुष्ठान आदि का विधि का अनुभव कर लेने का नाम विज्ञान है।

आस्तिक्य— वेदादिशास्त्र, आत्मा, परलोक आदि का हृदय में आदर हो श्रद्धा हो और उनकी सत्यता में कभी सन्देह न हो तथा उनके अनुसार अपना आचरण हो, इसका नाम आस्तिक्य है। शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्ध में अपलायन, दान और ईश्वर भाव आदि क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।⁶

शौर्य— मन में अपने धर्म का पालन करने की तत्परता हो, धर्ममय युद्ध प्राप्त होने पर युद्ध में चोट लगने, मर जाने आदि का किंचिन्मात्र भी भय न हो तथा अत्यधिक कष्ट होने पर भी पहले जैसे ही अस्त्र-शस्त्र चलाता रहे इसका नाम शौर्य है।

तेज— जिस प्रभाव या शक्ति के सामने पापी मनुष्य भी पाप करने से हिचकते हैं, जिसके सामने लोग स्वाभाविक ही मर्यादा में चलते हैं उसका नाम तेज है।

धृति— विपरीत से विपरीत अवस्था में भी अपने धर्म से विचलित न होने और शत्रुओं के द्वारा धर्म तथा नीति के विरुद्ध अनुचित व्यवहार से सताये जाने पर भी धर्म तथा नीति—विरुद्ध कार्य न करके धैर्यपूर्वक उसी मर्यादा में चलने का नाम धृति है।

दाक्ष्य— प्रजा पर शासन करने की, प्रजा को यथायोग्य व्यवस्थित रखने की और उसका संचलन करने की विशेष योग्यता का नाम दाक्ष्य है।

युद्ध में अपलायन— युद्ध में कभी पीठ न दिखाना, मन में कभी हार न स्वीकार करना, युद्ध छोड़कर कभी न भागना, यह युद्ध में अपलायन है।

दान— उदारतापूर्वक, बड़ी मात्रा में, बिना किसी पछतावे के धर्मार्थ ब्राह्मण को तथा प्रजा के कल्याण के लिए द्रव्यादि देना, क्षत्रियों का स्वभाव है।

ईश्वरभाव—स्वामी भाव अर्थात् निःस्वार्थ रूप से सबका हित देखते हुए पुत्रवत् प्रजापालन का भाव।

गीता के अनुसार कृषि (खेती) करना गो—पालन और वाणिज्य (व्यापार) करना आदि वैश्यों के स्वाभाविक कर्तव्य हैं।⁷

सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।⁸ यहाँ एक शंका पैदा होती है कि भगवान् ने चारों वर्णों की उत्पत्ति में सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों को कारण बताया। उसमें तमो गुण की प्रधानता से शूद्र की उत्पत्ति बतायी और गीता में जहाँ तमोगुण का वर्णन हुआ है, वहाँ उसके अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, अप्रकाश, अप्रवृत्ति और मोह से सात अवगुण बताये गये हैं।⁹ अतः ऐसे तमोगुण की प्रधानता वाले शूद्र से सेवा कैसे होगी? यदि इस पर गुणों की दृष्टि से विचार किया जाय तो गीता में आया है कि—सत्त्वगुण वाले ऊँचे लोकों में जाते हैं, रजोगुण वाले मध्यलोक (मृत्युलोक) में जाते हैं और तमोगुण वाले अधोगति में जाते हैं।¹⁰ इसमें भी वास्तव में देखा जाय तो रजोगुण के बढ़ने पर जो मरता है वह कर्म प्रधान मनुष्य योनि में जन्म लेता है।¹¹ इन सबका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य मात्र रज प्रधान है। रज प्रधान वालों में जो सात्त्विक, राजस् और तामस् तीन गुण होते हैं उन तीन गुणों से ही चारों वर्णों की रचना की गयी है। इसलिए कर्म करना सबमें मुख्य होता है और इसीलिए मनुष्य को कर्म योनि कहा गया है तथा गीता में भी चारों वर्णों के कर्मों के लिए स्वभावजकर्म, स्वाभावनियतकर्म आदि पद आये हैं। अतः शूद्र का परिचर्या करना स्वभावजकर्म है। मनुष्यमात्र कर्मयोनि होने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में विवेक विचार का विशेष तारतम्य रहता है और शुद्धि भी रहती है, परन्तु शूद्र में मोह की प्रधानता रहने से उसमें विवेक बहुत दब जाता है। इस दृष्टि से शूद्र के सेवा कर्म में विवेक की प्रधानता न होकर आज्ञा

पालन की प्रधानता रहती है। इसलिए चारों वर्णों की आज्ञानुसार सेवा करना शूद्र के लिए स्वाभाविक होता है।

गीता में कहा गया है कि जिस वर्ण का जो स्वाभाविक कर्म है वही उसका स्वधर्म है। स्वभाव के अनुसार जो विशेष कर्म निश्चित है, वही स्वधर्म है। स्वधर्म अपना-अपना कर्म है। स्वधर्म के पालन से मानव परम् सिद्धि का भागी होता है। स्वधर्म का अनुष्ठान ही मनुष्य के लिए कल्याणप्रद है। इसीलिए गीता में कहा गया है कि स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्म को कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिए। जो कर्म स्वधर्म के अनुसार स्थिर कर दिये गये हैं, उनका त्याग करना तथा परधर्म का अनुष्ठान करना किसी को उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि जो परधर्म है, वह अपने स्वभाव के अनुकूल नहीं होता है। परमर्ध सहज नहीं है। परधर्म के पालन से मनुष्य ईश्वर से विमुख हो जाता है। इसीलिए गीता में कहा गया है कि अच्छी तरह से न किया गया विगुण स्वधर्म अच्छी तरह से किए हुए परधर्म से श्रेष्ठ है क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता है।¹²

गीता के स्वधर्म की शिक्षा अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। स्वधर्म पालन से विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति होती है तथा गीता की मूल शिक्षा निष्काम-कर्म को बल मिलता है। इसका पहला महत्त्व यह है कि स्वधर्म की अवधारणा सभी कर्मों की समानता पर बल देती है। स्वधर्म की दृष्टि से सभी कर्मों को एक ही धरातल पर रखा गया है। सभी कर्म मूलतः समान हैं। जहाँ तक कर्म का प्रश्न है मोची और ब्राह्मण दोनों समान हैं। यदि वे स्वधर्म का पालन करते हैं। यदि मोची स्वधर्म पालक है और ब्राह्मण स्वधर्म की उपेक्षा करता है तो मोची प्रशंसा का पात्र है। वैसी स्थिति में मोची को ब्राह्मण की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना न्याय संगत होगा। इस प्रकार स्वधर्म पालन के द्वारा गीता में कर्म की गरिमा को बढ़ाया गया है।

स्वधर्म सिद्धान्त का दूसरा महत्त्व यह है कि इससे सामाजिक व्यवस्था की रक्षा होती है। स्वधर्म के द्वारा ही व्यक्ति एवं समाज के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध सम्भव होता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति मनमाने ढंग से काम करना प्रारम्भ कर दे तो वैसी स्थिति में समाज में अराजकता का विकास होगा, जो शान्ति एवं सुरक्षा के लिए चुनौती प्रस्तुत करेंगे। स्वधर्म ही समाज की व्यवस्था का आधार है। यदि हम समाज की व्यवस्था को कायम रखना चाहते हैं तब स्वधर्म का पालन वांछनीय है।

स्वधर्म सिद्धान्त का तीसरा महत्त्व यह है कि स्वधर्म पालन से आध्यात्मिकता का विकास होता है। किसी भी कर्म को कर्तव्य समझकर सम्पादित करने से अहं का शमन होता है। किसी भी कर्म का अहं की तुष्टि के लिए करना सराहनीय नहीं है। अहं की तुष्टि के लिए कर्म करने से काम, क्रोध, लोभ आदि कुप्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है, जिसके फलस्वरूप मानव पाप का भागी होता है तथा उसके आध्यात्मिक विकास में बाधा पहुँचती है। अहं का त्याग स्वधर्म पालन से ही संभव है। अतः स्वधर्म पालन के द्वारा मानव अहं का त्यागकर आध्यात्मिक विकास की दिशा में उन्मुख होता है।

स्वधर्म का अन्तिम महत्ता यह है कि इस सिद्धान्त के द्वारा गीता की मूल शिक्षा निष्काम कर्म की पुष्टि होती है। गीता का उद्देश्य अनुत्साहित अर्जुन को युद्ध में भाग लेने के लिए प्रेरित करना है। अर्जुन को गीता में जिस युद्ध के लिए प्रेरित किया गया है, वह धर्म युद्ध है। अर्जुन क्षत्रिय है, क्षत्रिय का कर्तव्य है युद्ध में भाग लेना। युद्ध से पलायन क्षत्रिय के लिए निन्दनीय है। श्रीकृष्ण अर्जुन को निर्देश देते हैं कि अधिकार की रक्षा के लिए युद्ध करना नैतिक कर्तव्य है। अर्जुन को कर्तव्य को कर्तव्य (Duty for the sake of duty) समझकर सम्पादित करने का आदेश दिया जाता है। कर्मों के फलों के सम्बन्ध में सोचना मूर्खता है। भगवान् ने गीता में अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में कहा है “तुझे कर्म करने का ही अधिकार है। तेरा अधिकार कर्मफल के विषय में कुछ भी नहीं है”¹³, इस प्रकार अर्जुन को निष्काम कर्म के लिए प्रेरित किया गया है क्योंकि वही स्वधर्म की मांग हैं अतः स्वधर्म पालन के द्वारा निष्काम कर्म की पुष्टि होती है।

सन्दर्भ-सूची

1. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥
अथ गीतामहात्म्यम् (श्लोक 6)
2. तिलक-गीता रहस्य, पृष्ठ 17
3. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्यम् ॥ – श्रीमद्भगवद्गीता, 4.13
4. न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभि स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ – श्रीमद्भगवद्गीता, 18.40
5. शमो दमस्तप शौच क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ – श्रीमद्भगवद्गीता, 18.42
6. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ – श्रीमद्भगवद्गीता, 18.43
7. कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजं । – श्रीमद्भगवद्गीता, 18.44
8. परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् । – श्रीमद्भगवद्गीता, 18.44
9. श्रीमद्भगवद्गीता, 14.8 तथा 13.7
10. उर्ध्वगच्छन्ति सत्त्वस्था मध्येतिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्ति तामसाः ॥ – श्रीमद्भगवद्गीता, 14.18
11. रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्घिषु जायते । – श्रीमद्भगवद्गीता, 14.15
12. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ – श्रीमद्भगवद्गीता, 18.47
13. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ – श्रीमद्भगवद्गीता, 2.47